स्वांग' का स्त्री पक्ष

डॉ चंद्रकला

आज जब हम 21 वीं सदी में अनेक प्रकार के परिवर्तनों से गुजरते हुए समाज की आधी आबादी को उससे जोड़ते हुए जब बात करते हुए अपनी शास्त्रीय और लोक परंपरा को जब खंगालते है, और उस पर तुलनात्मक दृष्टि से बात करते हैं, तो सबसे पहले यह भी विचारणीय प्रश्न मन में उठना स्वाभाविक है कि इन लोक कलाओं या नाट्यविधायों में वह कहाँ है? या कि क्या इन सारे बदलावों के बीच हम उसे इससे अलग रख कर भी अपनी परंपरा को ज्यों का त्यों संरक्षित कर पाए हैं, या फिर क्या ऐसा कर पाना संभव है? जब लोक या जन ही बदल गया है या जब चारों ओर व्यावसायिकता ने बाजार की मांग के समक्ष घुटने टेकते हुए हम सबको एक उत्पाद में बदल दिया है। तब उसकी उपस्थिति ने जरुर एक धमक दर्ज की है। उसका कारण भी है आज हम उसे नकार नहीं सकते, क्योंकि हम किस तरह यह उम्मीद पाले या करें कि इन लोक कलाओं से जुड़े कलाकारों के जीवन में बाजार ने पैठ नहीं बनाई है या वह भी एक अच्छा और सहूलियत भरा जीवन जीने की इच्छा से अछूते रह जाए। इसलिए जब एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी अपना व्यवसाय या रास्ता बदल रही है। इन सबके आलोक में जब लोक साहित्य को देखते हैं तो उनमें महिलाओं के प्रवेश का यह परिवर्तन साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा है, जिन कारणों से उसे मंच पर जाने से दूर रखा गया, या सामाजिक रीतियों-नीतियों ने खुद उसके पैर बांध दिए थे। आज वही समाज उसको मंच पर देख कर उत्साह से भर उठता है। ये नहीं कि उसकी रूचि में परिष्कार हो गया है अथवा उसका स्वभाव बदल गया है, बल्कि और ज्यादा रस आने लगा है इन वर्जनाओं के टूटने से। पर्दे के भीतर का सौन्दर्य उसे सहज-सुलभ हो गया और उनसे ही नाभिनाल का रिश्ता निभाने वाली सामाजिक लोकरंजन या कहें रस ग्रहण करने वाली लोक रंग की जब हम बात करते हैं, तो उसमें भी अपने दर्शक को लुभाने की या इस ओर उसको बनाये रखने के लिए अपने कथानक व उसकी प्रस्तुति में एक नयापन लाने की कोशिश लगातार दिखाई देती है।

भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र से उद्भुत शास्त्रीय परंपरा की एक लंबी यात्रा से हट कर जब भी लोक रंग की बात होती है, तो सबसे पहले नृत्य की आदिम भूमिका ही सामने आती है। जब बादलों को देख कर किसी का मन-मयूर नांच उठा होगा, दिन भर के भूखे कबीले या समूह में शिकार मिलने और उससे सबकी भूख मिटने की ही वह अनिवर्चनीय खुशी होगी जिससे वह सामूहिक नृत्य में बदल गया होगा, इसकी कल्पना करते ही यह समझना मुश्किल नहीं होगा कि इसकी सूत्रधार कोई स्त्री ही होगी जिसके लिए अपने परिवार के भूख का निवारण और असाध्य श्रम के पश्चात् मिलने वाले भोजन की असीम खुशी ने उसकी देह में अनायास एक रोमांच व गति भर दिया होगा। यहीं से लोक रंजन, लोक नृत्य, या फिर नृत्य में ही आखेट

की भाव प्रस्तुति ने लोकरंग को एक आकार देकर अपने मन को मुखरित करने की एक नवीन विधा का सृजन किया। आज भी लोक में नृत्य की ही अधिकता है। जिसे विद्वानों ने पर अलग-अलग परिभाषाओं में परिमार्जित किया। जैसे अशोक वाजपेयी जी कहते है [1] "नृत्य आत्मा में देह में फैल जाता है, सम्भावनाओं में भी... नृत्य में देह स्वंय से संवाद करती है। दूसरों को भी संबोधित करती है। नृत्य हर अंग को बोलने का अवसर देता है।" लोक नाटयों पर भी यह बात लागू होती है, जब मंच पर कलाकार अपने संवाद भी हाथ लहरा कर और देह के संचालन से पूरे स्टेज पर घूम-घूम कर बोलता है। इसी को आधार बना कर डॉ विद्या बिंदु सिंह कहती हैं- [2] "लोकनृत्य और लोकनाट्य में विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। नृत्य भी नाट्य की एक शैली है, और नाटक का भी एक नृत्य अनिवार्य क्षेत्र है।... यही जीवन के समस्त सुख-दुःख की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी था। लोकनाट्यों ने संस्कृति और सभ्यता की गतिशील अविराम यात्रा में सदैव और निरंतर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है।" कह सकते हैं कि यहीं से महिलाओं और पुरुषों के काम के बंटवारे और भीतर-बाहर रहने की जो अप्रत्यक्ष विभाजक रेखा खिंची गई होगी, उसमें अपने अकेलेपन को काटने और आदमियों के रात्रि शिकार पर जाने से अपनी सुरक्षा में रात-रात भर जागने के लिए महिलाओं द्वारा जो नृत्य, गायन और अभिनय की मिली-जुली नाट्य पद्धति विकसित हुई, जिसमें कोई निश्चित पटकथा, मंच या निश्चित वेश-भूषा न होने के कारण समय-समय पर नृत्य, रोचक प्रसंग अपनी व्यथ-कथा को मात्र अपनी संतुष्टि के लिए इसमें जोडती चली गई होगीं। जिसने आगे चलकर यही एक परंपरा में बदल गयी। जिसमें एक आयु वर्ग की महिलाओं की सम्मिलित भागीदारी ने बिना किसी विशेष प्रयास के इसे विवाह की एक सामाजिक रीति से जोड़ कर अपने लिए एक कोना सुरक्षित कर लिया। जो आज भी बिना किसी बदलाव के ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यों का त्यों चला आ रहा है, उसमें जिस कथा का ताना-बाना बुना गया है उसे आज भी उसी परंपरागत आस्था के साथ निभाये जाने की भरपूर कोशिश है। कुछ नया जोड़े जाने पर भी पुरानी रीति से छेड़छाड़ न के बराबर है। पुरुषों के अधिकार क्षेत्र या उनके वर्चस्व में दखलंदाजी न होने से उन्होंने भी इसे जीवित रह जाने का अभय वरदान दे दिया होगा, कि जाओ जी लो तुम भी एक दिन की जिन्दगी अपनी मर्जी से। सारे संदर्भों के बीच इसी लोक-प्रथा को आज लोक-कला के नाम से मान्यता मिली है, लेकिन बहुत ही दबे स्वर या पर्दे की आड़ से जितना आधा-अधूरा, या दूसरों से जितना सुना उसको अनुमान के द्वारा व्यंजित करने का प्रयास करते हुए उसमें भी श्लीलता-अश्लीलता की विभाजक रेखा खींच कर। यह इस विधा पर काम करने वालों की अपनी सीमा है कि वह इस वर्जित प्रदेश में प्रवेश नहीं पाने के कारण अनुमान लगाने के लिए स्वतन्त्र हैं। इसके विस्तार में जाने से पहले यह जानना जरुरी है, इतनी सदियों से स्वांग की इस मौखिक परंपरा वह भी सिर्फ स्त्रियों से संरक्षित होने के बाद भी यह अपने पुराने स्वरूप को बनाये रखने में सफल रही है। ये अलग बात है कि शहरों में या जहाँ आज वर पक्ष की महिलाएं बारात के साथ साथ विवाह में शिरकत करने लगी हैं, वहाँ घर की बुजुर्ग औरतें ही इस प्रथा को पूरी शिद्दत से निभा रही हैं। देश के विभिन्न हिस्सों में अपने-अपने तरीके से नकटौरा, खोरिया (हरियाणा और पश्चिमी यू.पी.), या जलूया (पूर्वांचल) व्तून्तिया-तून्तकी (राजस्थान) के नाम भेद होने पर भी इनका रोमांच, विशिष्ट आस्वाद ने परंपरा निर्वाह की कोशिश और अपने लिए मिले समय को बिताने की जो अवधारणा विकसित की है, उसमें कोई

अंतर नहीं है। पूरे विश्व में शायद ही कोई ऐसी परंपराशील विधा होगी जिसकी नियंता ही नहीं पूरी बागडोर अपने हाथ में रखने वालियों ने पुरुषों के लिए भी आधी आबादी की अपनी खांटी विशुद्ध लोकनाट्य की इस महत्वपूर्ण विधा पर बात करने से पूर्व यहाँ रुककर अपनी शास्त्रीय व अन्य लोक विधाओं की पूर्व परंपरा पर अन्यान्य कारणों से आए परिवर्तनों व शास्त्रीय नाट्य कलाओं की अपनी प्रतिबद्धता के कारणों पर बात करके ही महिलाओं के द्वारा चली आ रही उनकी एकमात्र प्रहसनात्मक स्वांग प्रधान लोक नाट्य रीति पर बात करना समीचीन होगा।

महिलाओं के द्वारा खेला जाने वाला नृत्य प्रधान स्वांग के विविध रूपों को मैंने यहाँ अपने लेख में शोध का विषय बनाया है। उसका अपना कोई भी लिखित इतिहास उस रूप में नहीं है। जिस तरह नाट्यशास्त्र की परंपरागत रंगकलाओं के बारे में हमें मिलता है। जिस तरह महिलाओं की इस नृत्य व गीत प्रधान प्रस्तुति में अभिनय के लिए अलग-अलग राज्यों में कुछ प्रसंगों का समावेश या कहीं एक कहानी का आद्योपांत अभिनय होने ने, एक प्रश्न या जिज्ञासा तो सामने रखा ही है, कि तमाम वर्जनाओं के बीच जो भी उसने कुछ धार्मिक मंचीय रामलीला या रासलीला के साथ ही अपने आस-पास होने वाले मनोरंजन प्रधान मंचीय प्रस्तुतियों की सुनी हुई आधी-अधूरी कहानियों से उसने अपनी रीतियों-नीतियों को सजाया-संवारा होगा। उसमें परंपरागत रंगमंच का अपना-अपना महत्वपूर्ण योगदान अवश्य होगा जिससे यह थोपी या लादी हुई एक रूढ़ि न बन कर आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रगतिशील चेतना से जोड़ कर आगे उसके लिए रास्ता खुला रखा। जो उत्तर आधुनिकता के इस दौर में नई पीढ़ी के द्वारा भी अपने गाँव-घर से जुड़े रहने पर इसे रूढ़ि न मानकर आगे ले जाने के पक्ष में है और इसके बारे में बहुत कुछ जानने समझने के लिए उत्सुक भी है।

वहीं लोकनाट्य के नाम पर उत्तर भारत की अपनी पहचान रामलीला और रासलीला में भी बाजारवाद घुसपैठ ने बहुत कुछ बदल कर रख दिया है। यहाँ महिला कलाकारों की भागीदारी को केवल नृत्य आदि की आड़ में देह प्रदर्शन के लिए ही ज्यादा प्रयोग होता है। रासलीला में जरुर मर्यादा और आस्था का ख्याल रखा जाता है। यही कारण है कि इन कलाओं के कोई बंधे-बाधाएँ दर्शक नहीं होते हैं। बहुत पहले से ही जिन प्रदर्शनों में भींडापन की गुंजाईस होती थी, उससे इसलिए ही बच्चों और महिलाओं को दूर रखा जाता था, और गाँव से बाहर ही इनको खेले जाने के लिए जगह दी जाती थी। लेकिन रासलीला रामलीला की अपनी एक छवि है। जिसे धार्मिक कार्यों से जोड़ देने पर महिलाओं को एक ओट में बैठ कर देखने की अनुमति मिल जाती थी, इसका प्रभाव भी महिलाओं पर पड़ा होगा। लेकिन रोजगारपरक बनाने के लिए इसमें भी आधुनिकता का छौंक लग चुका है। माता का जागरण या किसी अन्य धार्मिक अनुष्ठान के बीच किसी राधा कृष्ण की रासलीला के नाम पर एक नृत्य को डाल कर सुविधाजनक ढंग से उसकी बनावट या कथानक से छेड़छाड़ करके उसके स्वरूप को बदल दिया है। बाहरी सुविधाओं ने जरुर कुछ परम्परागत गीतों, वाद्य यंत्रों व साज-सज्जा में यह परिवर्तन बड़े साफ़ तौर पर दृष्टिगत होता है। उसमें भी वह समर्पण या तन्मयता भीड़ या पैसा के आधार पर तय हो रहा है। जो कथाएं या नृत्य पूरी-पूरी रात के लिए तैयार किए जाते थे और देखने वाले भी उतने समय के लिए अपने को तैयार रखते थे, आज वह कुछ

घंटे के पैकेज में बदल गया है, एक ही दिन या रात में दो जगह की बुकिंग के आधार पर भी देखने को मिल रहा है। अगर कोई पूरी रात की प्रस्तुति के लिए आता भी है तो दर्शकों को बैठाए रखने और पैसे बटोरने के लिए बीच में उनकी मांग के अनुरूप चलताऊ गाने पर नाच करवा देना इस कला का आत्महनन ही है। उत्तर भारत में नगाड़े पर पड़ती चोट से लोगों के मन में धाक जमाने वाली नौटंकी का स्वरूप तो वही है, जैसे औरतों के सभी कार्यक्रम बिना ढोलक पर थाप दिए पूरे नहीं होते है। यही कारण है कि इसके सीमित होते जाने के पीछे दर्शकों में नई पीढ़ी की उपेक्षा ने किनारे लगाने का तो पुरानी पीढ़ी की पसंद ने इस कुछ संजीवनी दी है। इसी प्रकार अन्य विधाओं की तरह नौटंकी ने भी अपनी उखड़ती सांसों को आक्सीजन देने के लिए अपने कथानकों का विस्तार करते हुए उसमें अपनी प्रस्तुतियों में बदलाव के साथ ही सामाजिक विसंगतियों का दायरा व धार्मिक व पौराणिक कथाओं के अलावा राजीनीति पर आधारित व्यंग्यात्मक प्रसंग व गरीबी, खेती किसानी की परेशानियों और आर्थिक चुनौतियों को जोड़ कर भी अपनी आत्मा को सुरक्षित रखा है, लेकिन उसकी मांग भी आज बाजार और फैशन की भेंट चढ़ गई, ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी और संभ्रात लोग अपने अस्वादन और सांस्कृतिक रूचि को दर्शाने के लिए शौकिया तौर पर या किसी बाहरी लोगों के साथ आपसी लेन-देन के समय अपने देश की लोक कलाओं की प्रस्तुति का कार्यक्रम करवाते हैं। लेकिन हाथरस की नौटंकी और कानपुर की नौटंकी की शैलियाँ आज प्रयोगशीलनाट्य दलों की रंग प्रस्तुतियों में एक बार फिर से जीवंत हो रही है।

महिलाओं द्वारा प्रस्तुत स्वांग की इस कला के पीछे छिपे कारण को डॉ विजयेन्द्र सिंह ने इसे तीन खानों में वर्गीकृत किया है- [3]

(क) वर विजय, बारात की सकुशल वापसी तथा दुर्देव निवारणार्थ मंगल कामनाएँ करना।

(ख) रातभर जागरण करने से घर की चोर आदि से सुरक्षा करना।

(ग) सामूहिक मनोरंजन एंव मिष्ठान के साथ बधाई बांटना।

इस नाट्य यात्रा के सारे पड़ावों से गुजरने के बाद यह समझना आसान होगा कि उपरोक्त इन सभी विधाओं का सम्मिश्रण महिलाओं की इन प्रस्तुतियों में साफ तौर पर दिखाई देता है। गाँवों में शादी-विवाह के अवसर पर वर पक्ष की महिलाओं के द्वारा बारात में सभी पुरुषों के चले जाने पर अपनी और परिवार में आई सभी मेहमान स्त्रियों के साथ ही छोटे बच्चों व भरे पूरे घर की रक्षा की जिम्मेदारी भी सहज ही उठा लेती हैं, क्योंकि गाँव के अधिकांश युवा और बुजुर्ग लोग भी बारात में जाते ही थे। अगर किसी घर के कुछ पुरुष सुरक्षा के लिए रुकते भी थे तब भी इतने बड़े गाँव और उसमें विवाह के घर की पूरी जिम्मेदारी उठा सकने में असमर्थ तो नहीं होते होंगें, लेकिन किसी के रास-रंग में खलल भी नहीं डालना चाहते होंगे। उनके अपने घर की भी सभी महिलाएं विवाह वाले घर में ही सारे कार्यक्रम में पूरी भागीदारी निभाती हैं। यही कारण है उनके द्वारा ही कुछ किस्से कहानियां औरों को चटकारे लेकर कही-सुनी अवश्य जाती रही होगी, जो आज लोकनाट्य की आलोचनाओं व समीक्षाओं में धीरे-धीरे एक महत्वपूर्ण गंभीर रचनात्मक चर्चा में भी इसका उल्लेख होने लगा है। कपिला वात्स्यायन ने सीमित रूप में तो महेंद्र भानावत ने इस पर

विशेष कर राजस्थानी महिलाओं की इस कुछ विशेष प्रस्तुतियों पर विस्तार से प्रकाश डाला है, जिसमें उन्होंने महिलाओं द्वारा प्रदर्शित इन प्रहसनों को दो भागों बांटा है। पहला वह जिसे ख्याल-झामटड़े है। जिसमें कम से कम 56 स्वांग प्रसंगों की एक लंबी सूची के द्वारा विस्तार दिया है। पहली वह जिसे विवाह से पूर्व और दूसरी वह जिसे विवाह के पश्चात खेला जाता है, दोनों में से कुछ का विस्तार से उल्लेख किया है। गाडोल्या, बेरी और घूमरी बांटना, पाड़ोदाल खा व्लंगडया सिपाही की प्रहसनात्मक कहानी का रोचक वर्णन किया है।

जैसे लंगाडया में सिपाही और उसकी पत्नी दोनों स्त्री पात्र है,

जो दोनों गीतात्मक संवादों के द्वारा एक दूसरे के पीछे चलते हुए बातों ही बातों में एक-दूसरे की खूब खबर लेते हैं और जब सिपाही बनी स्त्री दूसरी को छेड़ता है या उसके साथ हंसी-मजाक कर लेता है तो उसकी पत्नी भी अपना पूरा बदला लेती है।

सिपाही- (मैं रखड़ी चढ़ा दूँ तीस तोले की),

उसकी स्त्री- हाँ रे मूं तो नहीं रे पैरू लंगड्या थारे हाथ की)

सिपाही- हां रे मूं तो लंगडया सिपाही रे सरकार को

स्त्री- हां रे मूं तो रंगोली मालन बीकानेर की

सिपाही- हाँ रे मूं तो दाण चुकाऊं दाणीचौंतरे स्त्री- हाँ रे मूं तो भाजी बेचूं मेथी पालको

इसी तरह वो उसकी हर बात और धमकी को नकार देती है और अन्य महिलायें भी उसमें अपनी तरफ से भी संवाद के लिए कुछ कथन-उपकथन जोड़ देती हैं। जिसमें सारे संचालन का केंद्र स्त्रियाँ ही होती हैं। दर्शक से लेकर प्रस्तोता तक सारी कमान उनके ही हाथ में होती है। लगभग इन सभी प्रदर्शनों यथा खेजड़ी का भैरू, टीपणा, भायली और ताणा का मौखिक कथानक भी महिलाओं के द्वारा ही बुना गया है और ये सभी स्वांग शादी के उत्सव को न सिर्फ मनोरंजन प्रधान बनाते हैं अपितु महिलाओं की अपनी रचनात्मकता सृजनेच्छा की कुशलता को भी व्यंजित करते हैं।

इसी तरह बारात के चले जाने के बाद वर-वधू के स्वरूप को लेकर अपनी-अपनी यादों को ताजा करने से सम्बंधित जो स्वांग खेले जाते हैं, उसे तून्तियाँ-तूंतकी कहते हैं। जिसका स्वरुप भी बहुत कुछ हरियाणा और पूर्वी-पश्चमी उत्तर प्रदेश में खोरिया या जलुया की भांति होते हुए परिस्थितिनुसार थोड़ा भिन्न तो हैं। क्योंकि लोककलाएँ सीमाओं में बंधी नहीं होती, न ही किसी जाति या वर्ग विशेष का इन पर कॉपीराइट होता है। इस कारण सीमाओं से सटे अलग-अलग राज्यों की ये परम्पराएं एक दूसरे के क्षेत्र में आवाजाही करती हुई आसानी से घुल-मिल कर एक समय वहाँ भी उस रीति नीति का हिस्सा आसानी से बन जाती हैं। राजस्थान का यह स्वांग थोड़ा बहुत सबसे मिलता जुलता हुआ ही है। इसके अंतर्गत वर और वधू का

वेश धारण करके दो महिलाएं इन चरित्रों को निभाते हुए जिसमें वधू वर से उम्र में बड़ी व कुंवारी होनी चाहिए और जिस तरह वधू के घर में विवाह की रस्में निभाई जा रही होंगी इधर यहाँ भी उनका नकली विवाह करवा कर सारी क्रियाएं करवाते हुए विवाह में न जाने के बाद भी उसका आनंद उठाने के साथ ही असली जोड़े के अच्छे भविष्य के लिए सुरक्षा की प्रार्थना भी की जाती है। माहौल को मनोरंजन प्रधान बनाने के लिए घर में ही पास के रिश्तेदार के यहाँ बकायदा बारात भी लेकर जाती हैं, जिसमें फूटे कनस्तर और भुन्गली को बजाते हुए भैरू के गीत गाते हुए बारात निकालती हैं और सारी रस्में करते हुए दो पक्षों में बटी महिलाएं एक दूसरे के लिए खूब अश्लील और मजाक के गाने गाती हैं। पूरा विवाह करवा कर दुल्हन को पूरे के साथ सम्मान लाया जाता है। जो आने वाली वधू के प्रति भी उसकी महत्ता को दर्शाता है। इस बीच सभी महिलाओं का ध्यान रखते हुए उनके खाने-पीने की भी पूरी व्यवस्था रखी जाती है व सुबह उनको घर तक गाने गाते हुए ही छोड़ कर भी आती हैं और विदाई में भी मिठाई या बड़े वाले बताशे सभी को दिया जाता है। हास-विलास और रूपक पर आधारित इस मंगलमय प्रस्तुति में सभी तरह की नाट्यानुभूति के तत्त्व समाहित देखे जा सकते हैं। इसे मात्र महिलाओं की एक धार्मिक या रीति-रिवाज से जोड़ कर उनकी रचनात्मकता को हल्का करके देखना होगा।

इसी तरह की वैवाहिक लोकपरम्परा खोरिया, खोडिया या नकटींरा के नाम से भी जानी जाती है। जो हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में वर पक्ष के बारात लेकर चले जाने पर घर की महिलाएं, बहुत तरह के वेश-भूषा धारण करके नाच-गाने के बीच में सबसे ज्यादा दूल्हे की माँ को केंद्र में रखते हुए अंग विशेष को लक्षित करते हुए वह सारी क्रियाएं दोहराती हुई उसकी दशा का मजा लेती हैं। ननदे, भाभियाँ, अपनी भाभी व ननद को लक्ष्य करके कटाक्ष या ताने को गाने में सहजता से गूंथ देती हैं।

बाकी और औरतें भी उसमें बारी-बारी से पुरुष वेश धारण करके पति पत्नी दोनों के आपसी संबंधो को सबके सामने खुले में उनकी नक्कल करके हर तरह से वैवाहिक जीवन की दबी-छिपी इच्छाओं को उभारती हुई, पूरी तरह से स्वछंद व बेलौस होकर जीती हैं। इसका कोई बुरा नहीं मानता हैं, सबकी भागीदारी होने से उसमें किसी के बुरा मानने की कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ी जाती है। यथास्थान सबको लपेट ही लिया जाता। एक उदाहरण यह भी है। जैसे वर की माँ को केन्द्रित करके किस तरह के रसीले बोल सुनाएं जाते हैं उसकी एक बानगी देखिए-

"कल्लर में खरबूजे बोए पानी की सरसाई में।

बन्ने की अम्मा तोडन गई लहंगा धर आई क्यारी में...

इसी तरह गाने को आगे बढ़ाते हुए उसको लक्षित करते हुए तमाम तरह के बोल इसमें जोड़ कर एक पैरोडी सी बनाते हुए सामूहिक रूप में सभी औरतें इसमें जुड़ते गाती हैं, साथ ही कोई स्त्री इसका नाट्याभिनय करते हुए उस घटना का प्रत्यक्ष अनुभव भी सबके सामने प्रस्तुत करते हुए पूरे परिवेश को

जीवंत कर देती है। वह भी बिना किसी निर्देशक या प्रशिक्षण के ये रंगसंचालन एक सामूहिक दृश्य में बदल जाते हैं। इसी तरह एक और गाना भी दूल्हे की माँ को ही केंद्र में रख कर गाया जाता है जिसमें जिस भी पुरुष के साथ उसका नाम जोड़ा जाता है उस व्यक्ति का रूप बना कर ही एक महिला पहले से तैयार रहती है और तुरंत उसका हाथ खींच कर चलने लगती है। सबको और मजा आये उसमें कई बार दूल्हे की माँ उस आदमी का हाथ छुड़ाने की बजाय उसके साथ जाने का अभिनय भी करती है। जिसे लेकर रिश्ते की सभी ननदें व उसकी अपनी भाभियाँ और तीखे बोल लगाते हुए खूब मजे लेती हैं।

"बन्ने की माँ ने बोया धनियाँ उसको पकड़कर ले गया बनियाँ।

आम के पेड़ पर आया बौर बन्ने की माँ को ले गया चोर...

इस बहनापे में सब सहज ही धुल-पुछ जाता है, जो शादी की भागम-भाग में यदि किसी तरह के मन-मुटाव से उपज गया होता है। दूर छिटके रिश्तों में एक ताजगी भरती ये कलाएँ किसी को अलग- विलग नहीं रहने देती है। सबको आपस में घुलने-मिलने का एक सहज मंच एक आँगन में उपलब्ध करवा देती हैं। आनंद का ब्रम्हानंद सहोदरा का यह भाव जिसका रस के संदर्भ में बार-बार उल्लेख होता है, उसका ही दिग्दर्शन कराती हैं ये सभी लोक कलाएं। जहाँ नातेदारी और गाँव की सभी महिलाएँ बिना बांधे एक संबंध में बंध जाती हैं। जिसकी सालो-साल चर्चा चलती है। उनका हाल-चाल पूछना भी उनकी दिनचर्या का अंग बन जाता है। जब तक उस परिवार में फिर से सबके इकट्ठा होने का दोबारा मौका न मिले ये सब किस्से चटकारे लेकर आपस में कहे सुने जाते हैं। यहाँ भी सभी औरतों को घर तक छोड़ने व विदाई में मिठाई देने की प्रथा यहाँ भी निभाई जाती है। इसी को महेंद्र भानावत जी ने एक दूसरे रूप में वर्णित किया है। "खोड़िया प्रदर्शन के दौरान कई बार कामातुर महिलाएं मदमस्त हो आपस में अपने अंगों को टकराती हुई खंड-भेड़ मचा देती हैं। पुरुष के अभाव में महिला-महिला मिलाकर यह क्रिया दिखने में भी संकोच नहीं करती जिसे पुरुष-स्त्री मिलकर करते है।" स्त्री पुरुष के आपसी संबंधों की मिठास जिन तत्त्वों से गुथे हुए होते हैं, उसी को आपसी छेड़छाड़ में लाना अश्लीलता और भींडापन किस तरह हो सकता है। जब नौटंकी या लौंडा नाच में खुले मंच पर द्विअर्थी संवादों में सब कुछ सबके सामने होता है। उसे रस लेकर यही पुरुष समाज खुद देखता है, और भद्दे जुमले उछालते हुए टिका-टिप्पणी करता है। तब तमाम वर्जनाओं के बीच घर की देहरी के भीतर हुए स्वांग या नक्कल को जिसे आपने न देखा-न भोगा है, जब नक़ल होगी तो अपने ढंग से ही होगी। पुरुषों की ढकी-छिपी हरकते महिलाएं अपने सबके बीच में जिस बेलौस ढंग से सामने ले आती हैं। उससे शायद अपनी आपत्ति को इस तरह से दर्ज करके कहा जा रहा है। यानि यहाँ भी कहने की कोई जगह आप न छोड़ेंगे। उसे आप अंदाजे से सुनी-सुनाई बातों के आधार पर किसी खाने में मत फिट कीजिए। वह बाजार का कोई उत्पाद नहीं है जो कोई उसकी क्वालिटी पर प्रश्न खड़े करें।

यह सारी प्रदर्शनी क्योंकि महिलाओं के बीच ही होती है, तो किसी संकोच, दुराव या छिपाव की कोई कोशिश नहीं होती है या कहें जो महिलाएं आम जीवन में भी बहुत मजाकिया स्वभाव की होती है उनकी तो मांग भी उसी तरह होती है जैसे मंच के कलाकारों की अपनी प्रतिष्ठा होती है, लेकिन कोई नई नवेली दुल्हन

जिसके हुनर के बारे में परिवार की औरतें ज्यादा नहीं जानती उनके द्वारा रचाया गया स्वांग या नकल न सिर्फ उन्हें सबके साथ जोड़ता है, बल्कि वह भी इन वैवाहिक कार्यक्रमों से जुड़ कर अपने को उस अपरिचय के दायरे से बहुत जल्दी स्वयं को निकाल लेती है। इसलिए बहुत से क्षेत्रों में तो बहु के आने पर और लोकाचार करने के बाद उससे नाचने गाने के लिए भी कहा जाता। जिसे थोड़े संकोच के बाद वह सबके कहने के बाद करके सबकी वाहवाही बटोर लेती है, लेकिन जहाँ इस तरह के रिवाज नहीं होते हैं, वहाँ यही वैवाहिक रस्म इनकी कला की चाहत को पूरा करने का एक मौका तो सहज ही उपलब्ध करवा ही देता है।

आइये बुंदेलखंड और उसके आस-पास के बीहड़ क्षेत्रों में पुरुषों के बारात में चले जाने पर महिलाओं को दोहरी जिम्मेदारी के साथ ही अपने परंपरागत रीति रिवाजों को भी कैसे निभाती है उससे आपका परिचय करवाते हैं। जिसे यहाँ बहलोल कहा जाता है अन्य प्रान्तों कि तरह यह भी महिलाओं का अपना रंग है जिसकी बिना किसी खास तैयारी के भी जम कर आनंद लिया जाता है। मन बहलाव के जितने तात्कालिक उपाय होते हैं इसमें धीरे-धीरे समाहित होते जाते हैं। सबके अनुभव से रगा-पगा यह लोकरंग सामूहिक नृत्य और गान से युक्त होता है। जिसमें छोटी बच्चियों और अन्य बालकों को खिला- पिला कर अपने आस-पास ही सुरक्षित सुलाने के बाद ही आस-पड़ोस की औरतों को बुलावा देकर वैवाहिक रस्मों में शामिल में होने के लिए ही बुलावा दिया जाता है, ढोलक की थाप सुनते ही धीरे-धीरे सब इकट्ठी हो जाती हैं। उस पूरी रात को राग-रंग के साथ ही पुरुषों के द्वारा छोड़े गए कपड़ों और वेश बदलने के सभी उपायों से युक्त असल दिखने की चाहत में घर के भीतर ही एक रंगपीठ का निर्माण करने की औचक कला को सृजनात्मकता से जोड़ देता है। वह भी सीमित संसाधन में उसकी क्षमता का परिचायक है। उसी को धारण करके कुछ न कुछ स्वांग या नक्कल करके आपसी मनोरंजन किया जाता है। जिसमें पति-पत्नी के बीच की मान-मनुहार या उनके संबंधों की अठखेलियाँ नवयुवतियों के मन के भय को दूर कर उसे परिपक्व बनाने व भविष्य में दूसरे परिवार के साथ सास ननद से संबंधों की मिठास को सहजता से निभाने का पाठ भी दे देता है। साथ ही एक पूरी पीढ़ी को जोड़ने से यह कला एक कदम और आगे बढ़ने के साथ ही सुरक्षित भी हो जाती है। यह भी इन परम्पराओं की गतिशीलता को बनाए रखने का सहज स्वाभाविक रूप है, जो मौखिक होते हुए भी सदियों की यात्रा में ज्यों का त्यों निरापद चली आ रही है।

इसी तरह पूर्वी उत्तर प्रदेश और उसकी सीमा से लगे बिहार के कुछ जिलों में भी खोरिया या डोमकच भी औरतों के द्वारा ही खेला जाता है जो लगभग खोरिया और बहलोल की तरह ही नृत्य और नक़ल प्रधान लोक परंपरा के निर्वाह के लिए महिलाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है जब बारात के पैदल, डोली में या हाथी, घोड़े पर अपने गंतव्य तक पहुँचने के लिए एक दिन पहले ही घर से निकल जाती थी और वहाँ भी दो दिन रुकने के बाद तीसरे दिन दुल्हन की विदाई करवा कर वापसी करती थी। जिसमें फिर एक या दो दिन सफ़र में ही कट जाते थे। उतने दिन बिना किसी पुरुष के महिलाओं के सामने अपनी सुरक्षा और समय काटने के लिए जो साधन जुट सकता था, वह था उनका अपने लिए ही नाट्यानुभुति के लिए मंच की व्यवस्था करना। जो घर के सामने के द्वार पर या बड़े आँगन अथवा छत पर भी बड़े ठाट-बाट से महफ़िल सजती थी। आस-पास पड़ोसी महिलाओं का खाना-पीना भी वहीं होता था जिससे घर के कम से

जल्दी निवृत होकर वह भी वहाँ कम के साथ ही दुल्हन और बारात के स्वागत के साथ इस सम्पूर्ण आयोजन का महत्वपूर्ण हिस्सा होती थी। आज भले ही बारात के अगले ही दिन लौट आने से उतना लम्बा समय नहीं मिलता है, लेकिन फिर भी उतने ही समय में वह सारी क्रियाएँ बिना किसी परिवर्तन के आज भी दोहराई जाती है उतने ही वक्त के लिए अपने सुख-दुःख बांटती उस बहनापे को जीवंत करती औरतें जितना हो सकता अपना पाठ प्रस्तुत करती हैं। जिसमें वर की माँ के द्वारा चने की दाल की पांच पूरी और गुड़ की खीर जिसे 'बखीर' कहते हैं। इन सारे आयोजन के बीच अपना पार्ट करने के बाद बना कर रख देती है जो सुबह दुल्हन के आने पर उसे कुछ धार्मिक रीति करने के लिए दिया जाता। जो उसके शीतल और सुखद भविष्य से जुड़े होने के साथ ही उसकी अपनी सास के हाथ का बना पहला भोजन होता है। इस उसके स्वागत और प्रेम से जोड़ कर देखा जाता है।

इसका सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा वह है जिसमें लडके की माँ या घर की वह महिला जो सम्मानीय होने के कारण वर की माँ की जगह चौके पर बैठती है और उसकी जगह ही विवाह से जुड़ी सारी रस्में निभाती है वही इस 'जलुए' में भी सबके निशाने पर रहती है। बारात के जाते ही छोटी चारपाई या खटोले के एक गोडे के छेद में उसके ही आकार प्रकार की एक लकड़ी डाल कर उसके हाथ की तरह बांध कर ऊपर के चौड़े सिरे पर गुंथे हुए आटे की मदद से सुंदर मुंह की आकृति बना कर सुखाने के लिए रख दिया जाता है और रात होते ही जब तक अन्य महिलाएं अपने किरदार के अनुरूप तैयार होती हैं तब तक उस लकड़ी पर आटे से बनाई गयी आकृति कपड़े में लपेट कर एक बच्चे की तरह पेट के पास छुपा दिया जाता है उसे प्रसव पीड़ा की अनुभूति को महसूस कर उस तरह का अभिनय करना पड़ता है और जब वह माँ से दर्द बर्दाश्त न होने और वैद या दाई को बुलाने की बात कहती है, तब उसकी माँ जब पूछती है ये सब कब और कैसे हुआ उसको गाने में संवादात्मक रूप में अन्य महिलाएं कुछ इस तरह गाती हैं।

बेटी- अरे हाँ रे न पजरवें के तीरेरे नमाई, ऊहूँ न ऊहूरे

माँ या अन्य महिलाएं- अरे कौने रे तेली के लुभइलू ये बेटी, अरे उहूँ रे ऊहूँ

बेटी फिर कहती है- अरे बनियन्वा के रे लुभइलूँहो माई, कि ऊहूँ रे ऊहूँ

ऊ हूँ अरे हलुईया के रे लुभइलूं हो माई, ऊँ हूँ रे माई, कि ऊ हूँ रे

अरे तली-तली जिलेबियाखियवले हो माई, कि ऊ हूँ रे ऊ हूँ

अरे जब रे जिलेबियातूंखइलूजब ये बेटी, ऊ हूँ रे ऊ हूँ,

एकहू बार न हमसे तू पुछलू ये बेटी कि ऊ हूँ रे ऊ हूँ"

इसी तरह सबका नाम जोड़ कर इस गाने को आगे पूरा किया जाता है। वह माँ बेनी (हाथ का पंखा) डुलाने और जल्दी से उसकी पीड़ा हरने की बात कहती है और उसके पिता वैद को लाने के बाद जब गाँव की दाई

को बुलाने जाते हैं तो वह अपने घरवाले से झगड़ती हुई कहतल "रतियाँ हो गउवेझगडवा हमरे बालम से, रतियाँ हो गउवेझगडवा... अरे सोने की थारी में जेवना परोस लूं, अरे जेवना न जेंइबा

मोरे अंगारे से,

मोरे अंगारे से हमके नइहर पहुंचाइदा डोली कहारे से" यह भी इसी तरह आगे बढ़ता जाता है।

वह लड़की के पिता से आटा पिसने या अन्य काम का बहाना करती है और कहती है-

"तिसिया क तेलवा हो मथवा लगवलूँ, त केसिया गइल अझुराई रे महिनवा

अरे वार धोवे गइलों हम बाबा के सगरवा में, त टिकुली गिरेली मझधार से महिनवा

गॉड तुहरे लागी ला भईया मलहवा, अरे सगरे में जलिया

लगावऊ भईया मलहवा

इसके बाद कहती है कि आपके यहाँ तो ठीक से मजदूरी मिलेगी की नहीं और अलग से नेग नहीं मिलेगा तो मैं नहीं जाउंगी। बहुत कुछ मिलाने के आश्वासन के बाद वह जाती है।

और जब बच्चे की नाल काटने की बात आती है तो देखती है की उसकी जिठानी या दयादीन हंसुआ छिपा देती है जिसे वह इस तरह गाती है-

न हो

"कुलवा में भइलेंनादान, अवरुनादान न हो

हे ललना गोतिनहंसुआचुर वलिहो कि कइसे कनार वाछिलब

कुलवा में जनमें लें जादु ना दा ना हो, हे गोतिनमोरी ले के भागि जनम लेहूँ कपट नरवा छिला न हो.और बच्चे को सूप या थाली में डाला कर पांच औरते घूमती

हुई गाती हैं-

"केकरे महलियाँ ले के जाईं जलुआ रोवे ला,

के मोरे जलुआ के दिहेंदू मखाना, होकि मलाईया जलुआ रोंवें ला, कइसे हम दुधवा पिआई की जलुआ रोवे ला और उसके रोने के कारण पर भी कई गाने गाये जाते है।

और औरतें इस बीच शोहर गाती हुई आपस में उसका खूब मजाक भी उड़ाती हैं कि ठीक से एक बच्चा भी ठीक से नहीं पाल सकती हो और बेटे की बहू की सास बनने के सपने देख रही हो। उधर उसकी ननद अपना नेग मांगना शुरू करती है। यह उस नवजात बच्चे से लेकर उसके दूल्हे बनने के सारे दृश्य को फिर

एक बार जीवंत करता हुआ, एक माँ के प्रसव की असहनीय पीड़ा से उठता हुआ आज उसके नवयुवक के रूप में जीवन की दूसरी शुरुआत के सुख से एक माँ को अभिभूत करने की यात्रा है। जिसके अनेक पड़ावों से वह गुजरती है और बाकी महिलाएं भी उस स्थिति को पूरी तरह यथार्थ के करीब ले जाने के लिए अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह करती हैं। कोई एक महिला जो पुरुष वेश में होती है और अपना रौब डालने के लिए जबरदस्ती बीच-बीच में डंडा फटकारते अंट-शंट संवाद बोलते हुए उस माहौल को रस से सराबोर कर देती है। उस पर छींटा-कसी करती महिलाएं इसका उसका नाम जोड़ कर उस हंसी और आनंद को दुगुना कर देती हैं। कोई उस पुरुष के नकली पेट को पकड़ को मांगती है तो कोई उसकी नकली दाढ़ी खींचती है तो वह भी बदले में अपने डंडे को यहाँ-वहाँ कोंच कर अपनी कुत्सित मनोवृति का परिचय देता है। इस पर भी उसे अन्य औरतों की गाली व मजाक झेलना पड़ता है और अंत में वही पुरुष बनी महिला अन्य महिलाओं के साथ आस-पास किसी अन्य घर के पुरुष जो बारात में न जाकर उनकी देखभाल या आपातकाल में मदद करने के लिए रुक जाता है उसे अपना शिकार बनाती हैं। उस गहरी निद्रा में सोए हुए आदमी को पुलिसकर्मी बनकर खूब डराती-धमकाती हैं जिसे इन सबके बारे में पता होता है, वह तो चुपचाप दूसरी जगह उठ कर सो जाता है, और औरतें भी उनका लिहाज करके वापस गाते-बजाते लौट आती हैं, लेकिन कई बार इसके बारे में अनजान कोई देवर या मजाक के रिश्ते में होता है, तो उसको इतने सस्ते में नहीं छोड़ती हैं। उसे खूब परेशान भी करती हैं। उसके बाद भी कई दिनों तक उसकी उस हालत का हवाला देते हुए उसे छेडती हैं यह नाट्यानुभुति का वह पाठ जिसकी स्मृति या अनुभूति जीवन में एक बार भी देख लेने पर मिटती नहीं है। इस पैसे देकर उस देहाती या ग्रामीण परिवेश के सहज माहौल में जीते व भोगते हुए उसका हिस्सा बनकर ही महसूस किया जा सकता है महिलाओं के अनिवर्चनीय सुख की तृप्ति तो पुरुषों के लिए सपने की बात है। महीनों की तैयारी करके अपने पाठ या संवाद को मंच पर प्रस्तुत करने वाले की तुलना में, जो सहज स्फूर्त हो उसकी इस आत्मीय अभिव्यक्ति की आपस में क्या तुलना हो सकती है। इस किसी के लिए नहीं अपने या अपनी जैसियों के लिए खेला जाता है। एक रात में पूरी कथा को महिलाओं के द्वारा ही अन्य औरतों के लिए प्रस्तुत करने की यह कला संसार के किसी भी साहित्य में नहीं मिलेगी यह भी भारतीय लोक कला का अपना एक महत्वपूर्ण अपादेय है जिस पर आज सबकी खोजी निगाहें जरुर अटक रही हैं। याद होगा आपको 'गोदान' में होली के अवसर पर पहली बार किस तरह गोबर और उसके साथी पूरे गाँव के अमीर व ऊँची जात के या सूदखोरों की अप्रत्यक्ष खिंचाई करके सभी शोषित तबके के लोगों को जो सुख देते हैं। वह उन सबके भीतर की ही वह तिक्त कड़वाहट होती है। जो विरेचन के रूप में बाहर निकलती है।

सहायक ग्रन्थ :

1. कभी-कभार, अशोक वाजपेई, जनसत्ता, 23 जुलाई 2011, पृष्ठ संख्या-06।

2. भारतीय लोक नाट्य, लेखक डॉ. महेंद्र भानावत, पृष्ठ संख्या-10, प्रथम संस्करण 2014, आर्यावर्त संस्कृति संस्थान

3. भारतीय लोक नाट्य, लेखक डॉ. महेंद्रभानावत, पृष्ठ संख्या 170, संस्करण 2014, आर्यावर्त संस्कृति संस्थान।

4. पारंपरिक भारतीय रंगमंच, कपिला वात्स्यायन, प्रथम संस्करण- 1995, नेशनल बुक ट्रस्ट।

5. देवबंद की स्वांग परंपरा, डॉ. सुरेन्द्र शर्मा, प्रथम संस्करण- 2015, समन्वय।

6. परंपराशील नाट्य, जगदीशचंद्र माथुर, प्रथम संस्करण 2006, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय।

7. श्री रामनगर रामलीला, भानुशंकर मेहता, प्रथम संस्करण- 2015, लोकभारती प्रकाशन।

विशेष आभार डॉ. कुसुम नेहरा (बी. आर. आंबेडकरकॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय) खोड़िया का लोक गीत जुटाने के लिए और जलुया के गीत मेरी आदरणीय मामी, मालती सिंह के सौजन्य से।

-डॉ चंद्रकला